International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 05-01-2021, Accepted: 18-01-2021, Published: 02-02-2021
Volume 7, Issue 1, 2021, Page No. 75-81

# बाज़ारीकृत वैश्विक परिदृश्य में समसामायिक हिन्दि कविता की बहुस्वरता

**डॉ. मिनी जोर्ज**
असोसियेट प्रोफसर, विभागाध्यक्षा और शोध निर्देशक हिन्दी स्नातकोत्तर एवं शोध विभाग कैथोलिक्केट कॉलेज पत्तनमतिट्टा, केरल, भारत

**सारांश**
वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद, बाज़ारवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की संस्कृति पूँजीवाद की देन है। इससे टकराने केलिए या अपनी अस्मिता को बनाए रखने केलिए आज के कवि बाज़ारवाद के चमकीले प्रलोभनों, पद - प्रतिष्ठा तथा भौतिक सुख - सुविधाओं के चक्रव्यूह से बचते हुए अपनी सृजन धार्मिता और सामाजिक सरकारों को सदैव सुरक्षित बनाए रखते हैं। भूमण्डलीकरण व बाज़ारवाद के खतरे हमारे मानवीय सरोकारों को निर्ममता से कुचलने केलिए तत्पर है तो आज की कविता अपने शालीन व ओजपूर्ण स्वरों में मानवता को बचाने के प्रयत्न में मुस्तैद खडी है।

**मूलशब्द:** वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद, बाज़ारवाद, उपनिवेशवाद, पूँजीवाद, चक्रव्यूह

## प्रस्तावना

आधुनिक युग वैश्वीकरण का युग कहलाता है। भूमण्डलीकरण एक उत्तर आधुनिक अवधारणा है जिसमें संपूर्ण विश्व की कल्पना 'विश्वग्राम' या 'ग्लोबल विल्लेज' के रूप में की जा रही है। भूमण्डलीकरण को अंग्रेज़ी में 'ग्लोबलाइज़ेशन' कहते हैं। विश्व की विभिन्न अर्थ व्यवस्थाओं और संस्कृतियों का मेल और एकरूपी करण ही भूमण्डलीकरण है। यह प्रक्रिया आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और राजनीतिक ताकतों का समायोजन है।

भूमण्डलीकरण नब्बे के बाद की देन है। इसकी शुरुआत पिछली सदी के अन्तिम चरण से मानी जा सकती है। भूमण्डलीकरण का मतलब है - 'मुक्त व्यापार' अर्थात विकसित देशों से विकासशील और पिछडे देशों में वस्तुओं का खुला आयात। भारत ने 24 जूलाई 1991 में विश्वव्यापार के अधिनायकों द्वारा निर्धारित मानदण्डों को स्वीकार कर भूमण्डलीकरण व बाज़ारवाद को आमन्त्रित किया। भूमण्डलीकरण के साथ बाज़ारवाद की शुरुआत होती है। आज के समय का बाज़ारवाद वस्तुतः उभोक्तावाद है। भूमण्डलीकरण का प्रधान उद्देश्य है - "कम्प्यूटर, इन्टरनेट, वेबसाइट, मीडिया, विज्ञापन, क्रेडिट कार्ड, मोबाइल आदि नई प्रौद्योगिकी के साधनों के ज़रिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माल - सामान की खपत के लिए विकासशील और अविकसित देशों में बाज़ार खोले और वहाँ क्रय - शक्ति रखनेवाले उपभोक्ताओं को अपनी मनमोहक वस्तुओं की ओर ललचाना, फँसाना और खूब लाभ कमाना।"[1] अमरीका तथा पश्चिमी ताकतवार औध्योगिक राष्ट्र ने अपनी आर्थिक, सांस्कृतिक और मीडिया की शक्ति द्वारा अपने उत्पादन की बिक्री केलिए दुनिया भर के देशों को एक करके

तथा कृत्रिम, झूठा और आकर्षणानुमा संसार रचकर अपना बाज़ार रखा है। यहाँ भूमण्डलीकरण, उदारतावाद, बाज़ारीकरण, उपभोक्तावाद आदि पूँजीवाद के वर्चस्व को और भी मज़बूत करनेवाले उपकरण हैं।

आज बाज़ारवाद व भूमण्डलीकरण के इन्द्रजाल से वशीभूत होकर दुनिया सर्वनाश की कगार पर जा रही है। आज के दौर में साहित्य, समाज, विज्ञान, अर्थ, संस्कृति, राजनीति, प्रकृति, भाषा आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में इसका प्रभाव पडा है। आज के वैश्वीकरण के युग में चहूँ ओर मूल्यों का ह्रास हो गया है। बाज़ारवाद की खरीद - फरोख्त की संस्कृति की छाया में पले कम्प्यूटर टेकनॉलजी, सूचना सिस्टम, ज्ञान - विज्ञान और जनसंचार के निरन्तर होते विस्तार के ज़रिए, हमारे परम्परागत मूल्यों, मान्यताओं, निजी अस्मिताओं, आस्थाओं और विश्वासों को उदारीकरण, बाज़ारीकरण उपभोक्तावाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद ने निरर्थक और बेबुनियाद सिद्ध कर दिया। आज रिश्तों को भी पैसे से तौला जाता है। समसामायिक कवियों केलिए ये सारी समस्याएँ चुनौती बन गयीं। प्रसिद्ध कवि कुमार अम्बूज अपनी 'याददाश्त' कविता में इस नव उपभोक्तावादी संस्कृति को आक्रमणकारी के रूप में देखते हैं -

"आ रहे हैं जो आक्रमणकारी/ वे मुझपर नहीं। हमला करना चाहते हैं मेरी याददाश्त पर/ जानते हैं वे, जब तक मेरे पास है स्मृति/ मुझे याद रहेगा वह सब जो सुन्दर है। याद रहेगा यातनाओं का एक - एक क्षण/ बार - बार मेरे सामने होगा, मेरा इतिहास/ जब तक धोखा न देगी याददाश्त/ वे चाहते हैं विस्मृत कर दूँ अपना जन्म - स्थान, अपनी भाषा/ भूल जाऊँ अपनी नदी का नाम और उसका संगीत/ याद न रहे मुझे अपने बचपन के फूल, पक्षी और पेड/ भूल जाऊँ कि मैं मनुष्य हूँ।"[2] यहाँ कवि कुमार अम्बुज ने भूमण्डलीकरण के साथ पनपे बाज़ार की विकरालता को स्पष्ट किया है।

वर्तमान समय में बाज़ार मनुष्य के अनुरूप बदलता नहीं बल्कि मनुष्य को बाज़ार की अनिवार्यताओं के हिसाब से नियन्त्रित किया जा रहा है। आज के कवि इस बाज़ारवाद के लुभावने चेहरे के पीछे की विकृतियों का पर्दाफाश करते हैं। नई पीढी के प्रमुख चर्चित हस्ताक्षर संजय कुंदन अपनी 'सिक्कों के तानाशाह होनेके दौर' कविता में कहते हैं -

"वे अपने ज्ञान का सर्वोत्तम इस्तेमाल करते हैं। अज्ञान के पक्ष में वे नए ज़माने के मुनीम हैं/ नई वेश - भूषा और मुद्राओं वाले इनका खोजी दिमाग/ दिन-रात करता रहता हिसाब/ कि कितना रखा जाए एक मनुष्य को बाज़ार में/ कितना रखा जाए एक मनुष्य को घर में/ कितना वर्तमान में/ कितना अतीत में/ कितना भविष्य में/ कितना रहने दिया जाये, एक मनुष्य के भीतर मनुष्य/ वे अपने दिमाग को अधिक से अधिक बिकाऊ बना रहे/ और बेच रहे नए - नए मालिकों को/"[3]

इस बाज़ारवादी यन्त्र युग के दौर में मानवीय संवेदनाओं पर कई - कई अजनबी संस्कृतियों का हमला है। भूमण्डलीकरण व बाज़ारवाद ने सारे भूमण्डल को एक गॉव या 'विश्वग्राम' बना दिया तो रिश्तों की आत्मीयता को लगभग समाप्त कर दिया। वास्तव में बाज़ारवादी ताकत व उपभोक्तावादी संस्कृति के आधिपत्य के तले परम्परागत मूल्यों का ह्रास हो रहा है, रिश्ते टूट रहे हैं। "रिश्तेदारों - मित्रों का मिलना - जुलना लगभग समाप्त हो चुका है। ज़िन्दगी की आपा - धापी, पूँजी संग्रह, निज सुख - भोग आदि के कारण खून के रिश्तों में भी दरार पड गई है। एक- दूसरे की सुख की चिन्ताएँ समाप्त हो रही है। मनुष्य पशु की भाँति संवेदन विहीन जीवन जी रहा है।"[4] चन्द्रकान्त देवताले 'पत्थर फेंक रहा हूँ' कविता में मूल्यों के विघटन की उस भयानक

स्थिति से पाठकों को अवगत कराते हैं कि जहाँ पिता अपनी बेटी को बेचता है। फिर भी कवि को यह चिन्ता सताती है कि क्या ऐसा भी हो सकता है -

"सोचता बैठता हूँ/थके हुए पत्थर की तरह क्या हमारा समय पहूँच गया है/ उस कगार तक कि दस किलो जुआर केलिए अपने बाप इस तरह दाँव पर लगा दे बेटी।"[5]

बाज़ारवादी दुनिया में आधुनिक मानवीय आपा - धापी और भागम भाग में मानवीय संवेदनाओं केलिए अवकाश शून्य के बराबर है। अपने अन्दर की आवाज़ सुनने केलिए भी मानव के पास न समय है, न ज़रूरत है। कवि हेमन्त कुकेरती ने इस संवेदन शून्यता को यों शब्द - बद्ध किया है-

"मन के संकेत, जाने कब बिसर गए
अब हम बखूबी समझते हैं मशीनों के इशारे।"[6]
"इतने कमरों में कोई कोना नहीं मिलता
जहाँ कोई बाहरी आवाज़ न हो,
और हम सुन सके अपनी आवाज़।"[7]

बाज़ारवादी संस्कृति के प्रभाव से समाज में सब कहीं धन का हरापन और प्रभुत्व है। समकालीन जीवन का मेरुदण्ड ही धन है। राजनीति, समाज, विज्ञान, संस्कृति, साहित्य, कानून सब इसी के नियन्त्रण में चलते हैं। मनुष्य भी अन्धे होकर इस धन के पीछे दौड रहा है। "रुपया अब हाथ का मैल नहीं सर का ताज है। वह मनुष्य और जीवन पर राज कर रहा है। मनुष्य उसके क्रीतदास है।"[8] नए जमाने का भगवान है वह। इस धन पशुता को उजागार करनेवाली 'नोट देव की आरती' उतारते हुए श्री ओमप्रकाश आदित्य ने लिखा -

"ऊँ जै श्री नोट हरे, स्वामी जै श्री नोट हरे/ दुष्ट जनों के संकट/ पल में दुर करें/
ऊँ जै श्री नोट हरे/ माता....पिता तुम मेरे, तुम मेरे दादा/ स्वामी दादा के दादा/ प्रभो उनके परदादा/ तुम बिन और न दूजा, तुम पंडित हम पूजा/ तुम कुल मर्यादा
ऊँ जै श्री नोट हरे/..... नोट देव की आरती जो कोई नर गावै/ प्रभो प्रेमरहित गावै। स्वामी स्वार्थ सहित गावै/ कहत खलानन्द स्वामी

भनत धनानन्द स्वामी/ लखपति हो जाव/
ऊँ जै श्री नोट हरें।"[9]

वास्तव में स्तुतिपरक शब्दों द्वारा नोट देव की यह महिमा वास्तव में गालियों द्वारा नोट राक्षस की करतूतें व्यंजित करती है।

आज दुनिया में सब कुछ बाज़ार में बिकाऊ चीज़ बन गयी है। दूसरी ओर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सहयोग से पूँजीपति चौधरियों ने लोभ, भोग और सुख की तेज, झिलमिलाती और जगमगाती रोशनियाँ व्याप्त इस ग्लोबल दुनिया के मनुष्य को सूचना प्रौध्योगिकी रूपी हथियार के बल पर अधिक से अधिक आराम देह और विलासी वस्तुओं का उपभोक्ता बनाया। विज्ञापन बाज़ारवाद का पहला हथकंडा है, जिसके ज़रिए वह उपभोक्तावादी संस्कृति में बढावा देता है। विज्ञापन- दुनिया का एकमात्र लक्ष्य मुनाफा ही मुनाफा है। यह मनुष्य से अधिक मुनाफा को, तथा उत्पादन से ज्यादा पैंकिंग और मार्कटिंग को महत्व देता है। हावी होता बाज़ार, विज्ञापनों का मायाजाल, विलासी वस्तुओं की भरमार आदि ने आम जनता को इतना चमत्कृत हतप्रभ और विवेकहीन कर रखा है कि वे अपनी सभी वस्तुओं को उन्हीं के प्रभाव में खरीदते चले जाते हैं। बाज़ार में विज्ञापन के द्वारा हर चीज़ की ज़रूरी गैर ज़रूरी चीजों की बनावटी माँग पैदा की जा सकती है और उसे बेचा जा सकता है। अपना स्टेटस या अपनी हैसियत बढाने केलिए सामान

खरीदनेवाले उपभोक्ताओं की इस जमात को अर्थ शास्त्रियों ने "सिंथेटिक उपभोक्ता"[10] कहा है। ज्ञानेन्द्रपीत ने इस सत्य को प्रभावी रूप से अभिव्यक्त किया है -

"आज़ादी का मतलब है/ बाज़ार से अपनी पसन्द की चीज़ चुनने की आज़ादी/ और आपकी पसन्द वे तय करते हैं/ जिनके पास उपकरणों का क्या बल/
विज्ञापनों का मायाबल/ आपकी आज़ादी पसन्द है उन्हें/ चीज़ों का गुलाम
बनने की आज़ादी/ यांत्रिक सभ्यता के शीर्ष पर/ उन्होंने केवल कम्प्यूटर ही
नहीं बनाए हैं/ आपके दिमाग को भी कम्प्यूटर में बदल दिया है/

जिसका सोफ्ट वेयर वे सप्लाई करते हैं/
घर बैठे होम डिलीवरी/
मुफ्त बिलकुल मुफ्त ।"[11]

यह एक उल्लेखनीय सत्य है कि बाज़ार आम जनता का नहीं रहता, जिसके जेब में पैसा है, बाज़ार सिर्फ उसकेलिए खुला हुआ है -

"बाज़ार में जो दिख रही है। तंदुर में बनती हुई रोटी/ सबके हिस्से की बनती हुई रोटी नहीं है/ जो सबकी घडी में बज रहा है वह सबके हिस्से का समय नहीं है/ इस समय।"[12]

भारतीय संस्कृति में स्त्रियों को महिमामय स्थान है किन्तु आज वैश्वीकरण या बाज़ारवादी संस्कृति की सबसे त्रासद शिकार नारियाँ ही हैं। बाज़ार के चंगुल से नारी सुरक्षित नहीं है। क्योंकि यहाँ नारी मनुष्य मात्र नहीं बल्कि एक देह, एक उत्पाद तथा एक ब्राँड व एक विकाऊ माल के रूप में तब्दील हो गयी है। भूमण्डलीकरण से उपजी उपभोक्तावादी संस्कृति के तले नारी सिर्फ काम या सेक्स पूर्ति की वस्तु रह गयी है। विज्ञापन की गिरफत में पडकर स्त्री विशेष बाँड का उपभोक्ता बन जाती है। लीलाधर जगूड़ी ने इस विकरालता को स्पष्ट किया है -

"कम्पनियों की कठपुतलियाँ विज्ञापन सुन्दरियाँ/ एक अकर्मण्य सा परिधान बेचती हैं/ एक अस्वीकार्य सा वस्त्र स्वीकार्य करवाती है/ कम लंबाईवालों के बीच ज़्यादा लम्बी - लम्बी बेजोड स्त्रियाँ/ जिनमें बौद्धिक सौंदर्य की तलाश उन्हें अबौद्धिक मान लेने से/ ये स्वतः स्फूर्त सौंदर्य की धनी भरोसा की स्त्रियाँ नहीं है।"[13]

बाज़ार की विडम्बना यह है कि इसके लाभ का वितरण असमान होता है। इससे संपन्न और संपन्न हो जाते हैं जबकि गरीब और भी गरीब। यहाँ के अधिकांश लोगों केलिए रोजी - रोटी आज भी ईद का चाँद है। आदिवासी लोग अपनी बुनियादी ज़रूरतों केलिए वनों का ही आश्रय लेता आया है किन्तु बाज़ारीकरण के प्रभाव से वनों का नाश हो रहा है जिसकी वजह से आदिवासियों को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं तक केलिए शहर का मुँह ताकना पडता है, बाज़ार का आश्रय लेना पडता है और अन्ततः छटपटाकर मृत्यु का वरण करने को विवश होता है -

"बाज़ार की तरफ भागते/ सबकुछ गड्डमड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ/ उखड गए हैं बडे - बडे पुराने पेड/ और कोंक्रीट के पसरते जंगल में खो गयी है, इसकी पहचान।"[14]

खेत - खलिहान और किसान भारतीय जीवन के पर्याय हैं। प्राकृतिक संपदाओं पर निर्भर होकर जीनेवाले किसान कठिन परिश्रम करते हैं, अन्न उपजाकर हमें खिलाते हैं किन्तु वे आज दिन - पर - दिन बेरोजगार और बेसहारा बनते जा रहे हैं।

"विकास शील देशों के उद्योग - धन्धों और बाज़ारों पर काबिज हुए बिना यह वैश्वीकरण पूरा नहीं होता। इस मुहिम में विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, यूरोपीय संघ और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संघ शामिल हैं, जो गरीब देशों की किस्मत तैयार करते हैं, रूपए उधार देते हैं, उनकी योजनाएँ तय

करते हैं और अपनी कार्य सूचियाँ बनाकर उसपर अमल करने को विवश करते हैं।"[15] इन सबके पीछे बाज़ारवादी व्यवस्था है। उद्योग, व्यापार, कृषि सभी क्षेत्रों पर इसका कुप्रभाव पडता है। इन नीतियों के चलते भारत में 90 फीसदी लोग बेरोजगार बन गए हैं तो दस फीसदी लोग लालची उपभोक्ता बन गए हैं।

किसान - मज़दूर हमेशा कर्ज की गिरफ्त में है। बैंक ने उन्हें ऋण दिया, सरकार ने सब्सिडी दी, परिणाम ब्याज की किश्त चुकाने में खेत बिक रहे हैं। कर्ज की परेशानियों से तंग आकर आत्महत्यायें करते असंख्य किसानों की खबरें अख्बारों की सुर्खियाँ बनती हैं। लेकिन इस पर कोई निर्णय नहीं लिया जाता । वैश्वीकरण से आए विश्वव्यापी संकट से ग्रस्त भारतीय किसान की भयावह स्थिति का बयान सत्येन्द्र कुमार ने किया है -

> "उनके लिए ही जीवन के सारे रास्ते बन्द किए हैं/ वे ही मरते रहे/ आत्महत्यायें करते रहे/ और कुछ तिजोरियाँ भरती रही/ विदेशी पूँजी की चाकरी करनेवाले लोग/ समझते हैं/ खेतों और किसानों से नहीं, चन्द तिजोरियों से समृद्ध होता है देश/ तिजोरियाँ ज़िन्दा है तो ज़िन्दा है देश/ और किसी भी देश का किसान/ देश से बडा हो नहीं सकता।"[16]

बाज़ारवाद का एक पहलू है - महँगाई। जिससे आम आदमी के सपने सपने ही रह जाते हैं। महंगाई की मार से उनके सारे सपने खो जाते हैं। देखते सपने में परियों का आना भी बन्द हो जाता है। फलतः उनकी ज़िन्दगी त्रासद हो जाती है -

> "आँगन की किलकारी आहत हो गई। आज रिश्ते बिकने लगे/ चेहरों पर चेहरे लगा गए/ चेहरा छिपाने के नाना हथकंडे अपनाऐ जाने लगे/ नियमों, सिद्धान्तों और नीतियों की धरा हो गई/ बंजर जैसी लगती है अब/ धरा वसूलों की क्या विडम्बना है, त्रासदी है/ हसरत छिन गए, लुप्त हो गए।"[17]

पहले ही यह सूचित किया है कि औपनिवेशिक सभ्यता व बाज़ारवादी संस्कृति ने परम्परागत माननीय मूल्यों का हनन किया। प्राचीन काल से भारतीयों को भगवान और भाग्य पर अटल आस्था थी। किन्तु आज धर्म, और ईश्वर भी बाज़ार तन्त्र के शिंकजे में फँसकर बिकाऊ चीज़ बन गए हैं। हेमन्त कुकेरती ने 'ईश्वरवेतन' कविता में लिखा है-

> "खल कर्मों को ईश्वर के जिम्मे डालकर
> भगवती जागरण में मोटी पैसा देते हैं।"[18]

प्राकृतिक सम्पत्ति का शोषण और पर्यावरण का प्रदूषण भूमण्डीलरण से उपजी उपभोग संस्कृति का दुष्परिणाम ही है। उदारीकरण का पल्ला पकडकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने भारत में अपनी अपार पूँजी का प्रवाह करने के लिए और आर्थिक मुनाफा पाने केलिए अपनी जगह बना ली। नव औपनिवेशिक शक्तियाँ आर्थिक मुनाफे केलिए विकास के नाम पर ज़मीन, जल, जंगल और सामुदायिक संपत्ति के संसाधनों का दोहन व अन्धा घुन्ध शोषण कर रही है। आज हमारे पेड - पौधे के पेटेंट भी विदेशों के हाथ में हैं। यहाँ तक कि हमारा पानी भी मल्टी नैशनल कम्पनियों को बिक गया है। आज के कवि इस शोषण से दुःखी हैं। अरूण कमल 'इक्कीसवीं शताब्दी की ओर' कविता में इस दोहन और शोषण की शिकार बनी प्रकृति के भविष्य की ओर चिन्ताग्रस्त होकर लिखते है -

> "हर नदी का घाट श्मशान

हर बगीचा कबिस्तान बन रहा है
और हम इक्कीसवीं शताब्दी की ओर जा रहे हैं।"[19]

आज की कविता बाज़ारवादी संस्कृति की दुनिया को स्पष्ट करने के साथ-साथ पूरी दुनिया को एक कर देने की बाज़ारवादी मुहिम के खिलाफ लडती भी रहती है। वे मानवता के धरातल पर दुनिया को एक करना चाहती है। कवि निलय उपाध्याय प्रतिज्ञा करता है -

"वे बनाएँगे महँगे सामान/ हम नहीं खरीदेंगे/ वे तय करेंगे सदी का रास्ता/
हम नहीं चलेगें/ मोहक विज्ञापनों का असर नहीं होगा, हम पर/ एक मुट्ठी अन्न/
रोज़ कम खाएंगे और बचाएँगे बीज/ दुनिया में/ विरोध के सारे हथियार
जब चूक जाएँगे/ फिर भी बचा रहेगा हमारा असहयोग/ हमारी आत्म निर्भरता।"[20]

अभी तक के विवेचन से यह स्पष्ट हुआ है कि भूमण्डलीकरण व बाज़ारवाद आज की कविता और मनुष्य केलिए एक चुनौती है। वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद, बाज़ारवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की संस्कृति पूँजीवाद की देन है। इससे टकराने केलिए या अपनी अस्मिता को बनाए रखने केलिए आज के कवि बाज़ारवाद के चमकीले प्रलोभनों, पद - प्रतिष्ठा तथा भौतिक सुख - सुविधाओं के चक्रव्यूह से बचते हुए अपनी सृजन धार्मिता और सामाजिक सरकारों को सदैव सुरक्षित बनाए रखते हैं। बाज़ारवाद ने समकालीन कवियों के सामने जो संकेट पैदा किया है उससे बचने केलिए यह भी ज़रूरी है कि वह नई विचारधारा के प्रबल संवेग एव सन्दर्भानुसार संघर्ष चेतना की धार से स्थितिशीलता में परिवर्तन करें। अधिकांश रूप में आज की कविता पहले से लेकर आज तक नई - नई संवेदनाओं के साथ निरन्तर बदलाव की प्रक्रिया से गुज़ार रही है। परिवर्तित भूमण्डलीकृत समाज की संवेदनाओं को या अपने समय के सच को वह प्रत्यक्ष करती है। भूमण्डलीकरण व बाज़ारवाद के खतरे हमारे मानवीय सरोकारों को निर्ममता से कुचलने केलिए तत्पर है तो आज की कविता अपने शालीन व ओजपूर्ण स्वरों में मानवता को बचाने के प्रयत्न में मुस्तैद खडी है। आज की कविता वैश्वीकरण और बाज़ारवाद की अंधी दौड में शामिल संसार को इसके विरुद्ध सजग और सचेत बनाने के साथ अत्यन्त निडरता और साहस के साथ संघर्ष करके आगे बढ रही है। यह यात्रा बिलकुल सराहनीय है।

**सन्दर्भ**


1. डॉ. दयाशंकर - कल केलिए (त्रैमासिकी), जून 2009, पृ.14
1. कुमार अम्बूज - क्रूरता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं.2007, पृ. 51
2. संजय कुन्दन - कविता - इंडिया टुडे - साहित्य, वार्षिकी - 2012. पृ.46
3. डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्रा - हिन्दी अनुशीलन, जून - सितंबर - 2005, पृ.40
4. चन्द्रकान्त देवताले - पत्थर फेंक रहा हूँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.2014, पृ.72
5. हेमंत कुकेरती - आवाजें, चाँद पर नाँव, भारतीय ज्ञानपीठप्रकाशन, नयि दिल्ली, सं.2003, पृ.104
6. हेमंत कुकेरती - आवाजें, पृ. 23
7. विनय विश्वास - आज की हिन्दी कविता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.2009, पृ.33
8. ओमप्रकाश आदित्य - आस्पताल की टाँग, डायमंण्ड पाँकट बुक्स, पी.वी.टी.लिमिटड, सं.2017, पृ. 155, 156
9. आलोचना - अक्तूबर - दिसंबर 2008, पृ.115

10. ज्ञानेन्द्रपाते , आजादी उर्फ गुलामी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, स.2004, पृ.123
11. विनोदकुमारशुक्ल - अतिरिक्त नहीं, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं.2000, पृ.17
12. लीलाधर जगूडी - ईश्वर की अध्यक्षता में, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.1991, पृ.21
13. निर्मला पुतुल - सन्थाल परगना, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.2004, पृ.38
14. ज्योतिष जोशी - नई धारा, दिसंबर - जनवरी 2010, पृ.47
15. सत्येन्द्रकुमार - आत्महत्या करते किसान, वसुधा सितंबर 2002, पृ.267
16. अश्वघोष - महंगाई की मार, समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई - आगस्त, 2007, पृ.132
17. हेमन्त कुकेरती - ईश्वर का वेतन, चाँद पर नाँव भारतीय ज्ञानपीठप्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.2003, पृ.99
18. अरूण कमल - सबूत, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.2004, पृ.76
19. निलय उपाध्याय - नई धारा, दिसम्बर, जनवरी 2006, पृ.25